International Journal of Enhanced Research in Educational Development (IJERED)
ISSN: 2320-8708, Vol. 10 Issue 6, Nov-Dec, 2022, Impact Factor: 7.326

सामाजिक न्याय और सशक्तिकरण

डॉ. सुनील कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर , राजनीति विज्ञान विभाग , पी0 जी0 कालेज , गाजीपुर

सारांश

सामाजिक न्याय और सशक्तिकरण के प्रत्यय को समझने के पहले हमें न्याय के पारम्परिक अर्थ और आधुनिक सामाजिक न्याय के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। न्याय की अवधारणा की यात्रा संक्षेपतः व्यक्तियों के मध्य होने वाले न्याय से वर्तमान सामाजिक न्याय अथवा विशिष्ट नियमों पर आधारित न्याय से होते हुए वर्तमान सामाजिक न्याय तथा सशक्तिकरण तक जा पहुँची है। यहाँ यह कहना गलत न होगा कि अपकृष्यकर्ता और उससे प्रभावित व्यक्ति के बीच का न्याय आंशिक न्याय का द्योतक था। इसी तरह नियम संगठित यथास्थिति कायम करने और वांछित पदार्थों व शिक्षा पर समान पहुँच सम्बन्धी सिद्धान्त आंशिक न्याय के परिचायक रहे हैं। अब लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के साथ–साथ विशेषाधिकारहीन लोगों के लिए समान व्यवहार के दावे के साथ सामाजिक न्याय की अवधारणा मान्य हो गयी है। 17वीं–18वीं शताब्दी में प्रतिस्पर्धाजन्य विसंगतियों को दूर करने के लिये राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता उत्पन्न हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए न्याय के परिक्षेत्र को व्यापक बनाने की अपेक्षा की गई। सामाजिक न्याय की अवधारणा इसी अपेक्षा का प्रतिफल है। वास्तव में प्लेटो, अरस्तू से लेकर करीब 18वीं शताब्दी तक मजदूरों, स्त्रियों, गरीबों आदि के अधिकारों पर किसी भी दार्शनिक ने बहुत विस्तार से विचार नहीं किया है। जहाँ साम्राज्यवादी चेतना थी, वहाँ विशेषकर मजदूरों और श्रमिकों को अपने अध्ययन का आधार बनाया। यहाँ देखना उचित होगा कि न्याय की संकल्पना कहाँ से उत्पन्न हुई और उसके कौन–कौन से आयाम और दशाएँ रही हैं।[1]

शब्द कुंजी : कल्याणकारी राज्य, विशेषाधिकारहीन, सामाजिक न्याय, साम्राज्यवादी चेतना, आंशिक न्याय।

परिचय

प्राचीन यूनान के महान् दार्शनिक प्लेटों ने अपनी अमर कृति "The Republic" (राजव्यवस्था) को वैकल्पिक शीर्षक 'न्यायमीमांसा' दिया है जिसमें मुख्य रूप से न्याय सिद्धान्त का विश्लेषण किया गया है। प्लेटो ने न्याय की समानता पर बृहद् रूप से विचार करते हुए ज्ञान की अनेक शाखाओं का समावेश किया है। उसने जो न्याय की रूपरेखा प्रस्तुत की है वह परम्परागत दृष्टिकोण का उपयुक्त उदाहरण है। प्लेटो ने न्याय की स्थापना के उद्देश्य से नागरिक के कर्तव्य पर बल दिया है। उसके अनुसार, "न्याय वह सूत्र है जो समाज को बाँधे रहता है।"

न्याय राजनीतिक सिद्धान्त की प्राचीनतम अवधारणाओं में से एक है, जिसका सम्बन्ध धर्म, नैतिकता, समानता, स्वतंत्रता, कानून, राजनीति अर्थशास्त्र आदि से जोड़ा जाता है। इतना ही नहीं, समाज की हर धारणा का मूल्यांकन न्याय की कसौटी पर किया जाता है। वस्तुतः मानव समाज की शुरूआत से ही न्याय और अन्याय की चर्चा होती रही है। दूसरे शब्दों में जबसे मनुष्य ने समाज और मानवता के बारे में चिन्तन प्रारम्भ किया, न्याय की धारणा को भिन्न–भिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न कालखण्डों एवं परिस्थितियों के अनुसार, अपने परिप्रेक्ष्य के अनुसार अनेक प्रकार से समझने का प्रयास किया है। अतः भिन्न–भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में न्याय की

भिन्न–भिन्न धारणाएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त समय और परिस्थितियों के बदलाव के साथ–साथ न्याय की अवधारणा भी बदलती रही है।

प्रोफेसर बार्कर का मत है कि "हम मानवीय सम्बन्धों के साथ–साथ मूल्यों के संकलन तथा मूल्य को एक दूसरे के साथ जोड़ने में भी न्याय तथा न्यायमुक्त भाव की कल्पना कर सकते हैं। मानवीय संबंधों की संगठित व्यवस्था में विभिन्न मूल्य शामिल हो जाते हैं, जैसे स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व अथवा सहयोग आदि। हालाँकि कानून की किसी भी व्यवस्था में ये सभी मूल्य विद्यमान होते हैं।" परन्तु अलग–अलग कालखण्डों में उनकी मात्रा घटती बढ़ती रहती है। इसलिए समय–समय पर इन मूल्यों के फिर से समायोजन करने की आवश्यकता होती है। अतः बार्कर के अनुसार – "न्याय राजनीतिक मूल्यों का समाधानकर्ता तथा उनका समायोजन है। यह समाज में रह रहे लोगों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों में सामंजस्य एवं मधुर संतुलन स्थापित करता है।" दूसरे शब्दों में, न्याय को समाज के सम्पूर्ण व्यवहार में तथा उसकी विशेषताओं के संदर्भ में समझना चाहिए।

न्याय की धारणा हर सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक आचरण के आचार नियमों के आधार पर निश्चित होती है। वस्तुतः हर समाज में न्याय की अपनी धारणा होती है जो उस समाज की कसौटी बन जाती है। दूसरे शब्दों में, न्याय का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों, औचित्य एवं आदर्शों से है। इस प्रकार न्याय एक सर्वमान्य मानदण्ड है, किन्तु स्वयं में पूर्ण धारणा नहीं है बल्कि सापेक्ष धारणा है। जैसे–जैसे समय और परिस्थितियाँ बदलती हैं, न्याय की धारणा में भी परिवर्तन आता रहता है। संकीर्ण अर्थ में न्याय को एक कानूनी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, जिसमें न्याय संगत कानून, अदालतें, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायिक व्यवस्था कानून तथा अदालतों के समक्ष प्रत्येक नागरिक की समानता इत्यादि शामिल है। दूसरी ओर व्यापक अर्थों में न्याय की धारणा निरपेक्ष, शाश्वत एवं स्थायी है। यह सत्य की भाँति अपरिवर्तनशील, अमोघ एवं विशिष्ट नियमों द्वारा नियंत्रित होता है, प्लेटो, एक्विनास, अगस्टाइन इत्यादि दार्शनिकों ने शाश्वत का न्याय का सिद्धान्त मानते हुए न्याय की धारणा में काल और परिस्थितियों के साथ परिवर्तन होने को स्वीकार नहीं किया है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार न्याय एक सापेक्ष धारणा है तथा काल, स्थितियाँ मूल्यों में परिवर्तन के अनुसार न्याय की धारणा, न्याय के आधार, नियम इत्यादि बदलते रहते हैं। अतः सामाजिक स्थितियों के अनुसार न्याय और अन्याय को निर्धारित करना उचित है। अरस्तू, बेन्थम और मिल आदि दार्शनिकों ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है। अतः अपने अर्थ में न्याय की धारणा को समझना अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह एक जटिल धारणा है।

न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिए प्लेटो ने तीन वर्ग बताये हैं – दार्शनिक शासक वर्ग, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग। प्लेटो ने यह तर्क दिया कि जब तीनों वर्ग अपने–अपने कर्त्तव्यों की निष्ठापूर्वक पालन करेंगे तब राज्य की व्यवस्था अपने आप न्यायपूर्ण होगी।

वर्तमान काल में न्याय का अर्थ न्यायाधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना होता है, वहाँ प्लेटो के अनुसार न्याय की अवधारणा को कानूनी अथवा वैधानिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान् बार्कर के अनुसार, "प्लेटो का न्याय एक कानूनी विषय नहीं है, न ही यह कानूनी अधिकारों एवं कर्तव्यों की बाह्य योजना से सम्बन्धित है। यह कानूनीपन के क्षेत्र में नहीं आता, अपितु इसका सम्बन्ध 'सामाजिक नैतिकता' से है।"[2]

प्लेटो ने न्याय की जो परिभाषा दी है वह स्वयं उस समय की वर्ग व्यवस्था की पोषक थी। परिणामतः वह कहता है कि "अपने कार्य से मतलब रखना और दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही न्याय है।" तो वहीं प्लेटो के शिष्य अरस्तू के चिन्तन में न्याय की समस्या पर विस्तृत विचार किया गया है। उसके अनुसार न्याय का सरोकार मानवीय सम्बन्धों के नियमन से है। अरस्तू ने तर्क दिया है कि वितरण न्याय के अन्तर्गत 'पद–प्रतिष्ठा' और 'धन–सम्पदा' का वितरण अंकगणितीय अनुपात से नहीं होना चाहिए, बल्कि रेखागणितीय

अनुपात से होना चाहिए। अर्थात् सबको बराबर हिस्सा नहीं मिलना चाहिए बल्कि प्रत्येक की अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार हिस्सा मिलना चाहिए।

दूसरे शब्दों में प्रतिवर्ती या परिशोधनात्मक न्याय का उद्देश्य व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में संतुलन स्थापित करना या बिगड़े हुए संतुलन को फिर से स्थापित करना है। अरस्तू के अनुसार प्रतिवर्ती न्याय के क्षेत्र में अंकगणितीय अनुपात का प्रयोग उपयुक्त होगा अर्थात् इस मामले में किसी व्यक्ति की योग्यता–अयोग्यता या सामाजिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं बरता जायेगा।[3]

प्रसिद्ध विद्वान् डेविड ह्यूम का मत है कि "न्याय का अर्थ नियमों का पालन मात्र है क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि नियम 'सर्वहित' का आधार है। अतः सर्वहित या सार्वजनिक उपयोगिता को 'न्याय' का एक मात्र स्रोत मानना चाहिए। मनुष्य की प्रकृति विवेक या अनुबन्ध में इन नियमों का स्रोत ढूँढ़ने से कोई फायदा नहीं है।"[4]

विशाल रोमन साम्राज्य में न्याय सम्बन्धी धारणा जनसमूहों के कानून की अवधारणा पर आधारित थी, जिसमें वे कानून को सामंजस्यपूर्ण और पूर्ण न्याय एवं अधिकारों के भाग के रूप में मानते थे। रोमन न्यायशास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को उसका अधिकार प्रदान करने का सुनिश्चित एवं सनातन भाव है। रोमन न्यायशास्त्रियों ने विशिष्ट मामलों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का एक सुसंगठित ढाँचा विकसित किया जिसमें उन कानूनी अवधारणाओं को शामिल किया, जो उसके साम्राज्य के भिन्न–भिन्न जनसमूहों में सामान्य रूप से पायी जाती थी। इसके निष्पक्षता के उन सिद्धान्तों को भी शामिल किया, जो न्याय भावना को संतुष्ट करते थे। इस प्रकार रोमनवासियों के लिए 'न्यायशाली' न्याय का पुजारी था।

संत आगस्टाइन (354–430) का मध्यकालीन युग के इतिहास क्रम में महत्वपूर्ण स्थान है। संत आगस्टाइन के न्याय का सारतत्व मनुष्य और ईश्वर के बीच का सम्बन्ध है, जिसमें मनुष्य–मनुष्य के सही सम्बन्ध अनिवार्य रूप से निसृत होते हैं। यूनानियों के विपरीत उनकी मान्यता है कि राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा मानवीय पापों के उपचार हेतु की गई है। संत आगस्टाइन राज्य की 'दैवी उत्पत्ति' के समर्थक हैं। उनके अनुसार राज्य का अस्तित्व पूर्ण न्याय को प्राप्त करने के लिए होता है और यह न्याय केवल ईसाई राज्य में ही हो सकता है। इस प्रकार आगस्टाइन व्यवस्था की स्वीकृति तथा इस व्यवस्था द्वारा लागू कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति सम्मान भाव से न्याय के सिद्धान्त को जोड़ते हैं। साथ ही वे राज्य को चर्च का उपयोगी साधन मानते हैं और उनके अनुसार राज्य का चर्च के मामलों में हस्तक्षेप न्याय का उल्लंघन है।

इसी प्रकार 13वीं शताब्दी में थामस एक्विनास ने सामान्य गुण के रूप में न्याय और तात्विक न्याय के गुणों को एक साथ मिलाने का प्रयास किया। थामस एक्विनास ने न्याय सम्बन्धी अपने विवेचन में रोमन विधिशास्त्रियों एवं अरस्तू के विचारों को भी मिलाने का प्रयास किया। उसका मत है कि न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकार दिये जाने की निश्चित एवं सनातन इच्छा है। साथ ही उन्होंने इस बात पर बल दिया कि व्यक्तियों को अधिकार प्रदान किये जाने की व्यवस्था का आधार समानता होनी चाहिए, क्योंकि उसके विचार से 'समानता', 'न्याय' का मौलिक तत्व है।[5]

आधुनिक युग में डेविड ह्यूम (1711–1776) का 17वीं–18वीं शताब्दी के राजनीतिक दार्शनिकों में महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के बुद्धिवादी दर्शन की कड़ी आलोचना की। स्वतंत्रता एवं प्राकृतिक न्याय की धारणा का मजाक उड़ाया और उसके स्थान पर उपयोगिता के सिद्धान्तों को प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया। ह्यूम ने यद्यपि 'उपयोगितावाद' शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उसने उपयोगिता के सिद्धांत का ही समर्थन किया और न्याय के सिद्धान्त के निर्धारण में इसके महत्व पर बल दिया। जेरमी बेन्थम (1748–1832) ने

डेविड ह्यूम की वैचारिकी परम्परा को आगे बढ़ाया और यह घोषणा की कि 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' का सिद्धान्त 'सही और गलत' तथा 'न्याय और अन्याय' का मापदण्ड है। बेन्थम ने अपने समय की न्याय प्रणाली की कड़ी आलोचना की वह न्यायधीशों की निरंकुशता पर अंकुश लगाने के पक्ष में था, इसलिए ब्यूरो के माध्यम से मुकदमों का निर्णय किये जाने की बात कही बेन्थम ने दण्ड का उद्देश्य अपराधियों का सुधार माना है।

जान लाक, एडम स्मिथ तथा हरबर्ट स्पेन्सर आदि उदारवाद के अन्य विचारकों में से प्रमुख हैं। इन विचारकों के अनुसार, "स्वतंत्रता ही न्याय की सर्वोत्तम गारंटी है।" बाद में जे.एस.मिल, वेन्थम एवं हाबहाउस ने उदारवाद में परिशोधन की जरूरत महसूस की और नव उदारवादियों में चेपमैन, जान राल्स और आर्थर आकन ने राज्य के कार्यक्षेत्र को बहुत बढ़ा दिया। वर्तमान नव उदारवादी परम्परा में न्याय के स्वरूप पर जान राल्स (A Theory of Justice, 1971) के विचारों का महत्वपूर्ण स्थान है। राल्स के अनुसार, न्याय की धारणा का मूल आधार यह है कि मनुष्य यह तो जानता है कि समाज में उसका स्थान होगा परन्तु यह नहीं जानता कि वह मालिक होगा या नौकर, अफसर होगा या सिपाही, शासक होगा या शासित, यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ न्याय की आवश्यकता महसूस होती है ताकि वह किसी भी अवस्था में हो, उसकी 'मानवीय गरिमा' सुरक्षित रहे। राल्स ने परंपरागत उदारवादी नागरिक स्वतंत्रताओं और निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने के अधिकार को अत्यधिक महत्व दिया है। साथ ही आत्मसम्मान को भी महत्वपूर्ण तत्व माना है।

मार्क्सवादियों की न्याय सम्बन्धी धारणा बिल्कुल भिन्न है वे सम्पूर्ण पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली को अन्याय का प्रतीक मानता है जिसमें राज्य को शक्तिशाली वर्ग द्वारा कमजोर वर्ग का शोषण करने के लिये बनाया गया है। मार्क्स वर्ग विहीन समाज की कल्पना करता है जिसमें हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और प्रत्येक को आवश्यकतानुसार वेतन मिले। यह साम्यवाद की पूर्ण अवस्था होगी। इस प्रकार मार्क्स ने 'आर्थिक न्याय' पर बल दिया। बार्कर, लास्की एवं राल्स ने उदारवादी और मार्क्सवादी दोनों विचारों को मिलाने का प्रयास किया। इनके अनुसार न्याय का लक्ष्य 'व्यक्तिगतहित' और 'समाज का हित' प्राप्त करना है तथा व्यक्ति को ऐसे अवसर प्रदान करना है कि वह समाज में रहकर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके।[6]

सामाजिक न्याय, असमानता एवं सशक्तिकरण

सामाजिक न्याय की अवधारणा राजनीति और समाजशास्त्री विमर्श में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्प्रत्यय हैं जिसे सरल शब्दों में किसी समाज में सम्पत्ति, अवसर तथा विशेषाधिकार के सम्बन्ध में न्याय[7] के रूप में परिभाषित किया जाता है। जब भी सामाजिक न्याय की अवधारणा को समझने की कोशिश करते है। हम उन दो शब्दों के अर्थ को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं जिससे मिलकर इसका निर्माण होता है यानि कि 'सामाजिक और न्याय' सामाजिक शब्द जहाँ 'समाज और उसमें संगठित तरीके से रहने से सम्बन्धित है।'[8] वहाँ न्याय का अर्थ 'प्रत्येक व्यक्ति को वह प्रदान करना है जो उसके लिए है।[9] यह सार्वभौमिक सिद्धान्तों का एक ऐसा सेट है जो बिना संस्कृति या समाज का विचार किए इस बात का निर्णय लेने में लोगों का निर्देशन करता है कि क्या सही है क्या गलत है।[10] इस तरह अगर शाब्दिक दृष्टि से देखे तो जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय ने एम. नागराज बनाम भारत संघ वाद (2006) के विषय में कहा है – सामाजिक न्याय, न्याय की अवधारणा का ही एक उप वर्ग है। यह समाज में सुविधाओं तथा जिम्मेदारियों के वितरण से सम्बद्ध है जो सामाजिक संस्थाओं, सम्पति प्रणाली

तथा लोक संस्थाओं से उत्पन्न होता है। लेकिन इन शाब्दिक अर्थ में कुछ बातें पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाती हैं मसलन प्रत्येक व्यक्ति का जो दावा है उसका निर्धारण कैसे किया जाये? समाज में सुविधाओं तथा दायित्वों के विभाजन का पैमाना क्या हो? आदि। ऐसी स्थिति में हम दो अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोतों का मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं : (1) समानता और साम्य विषयक सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाला संयुक्त राष्ट्र चार्टर तथा मानवाधिकार का सार्वभौम घोषणा पत्र, तथा (2) एम. नागराज वाद में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय। जहाँ तक संयुक्त राष्ट्र चार्टर तथा मानवाधिकारों के सार्वभौम घोषणा पत्र का प्रश्न है इसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें शामिल हैं –

1. सभी प्रकार के भेदभाव का अन्त और प्रत्येक व्यक्ति की मौलिक स्वतंत्रता समेत नागरिक और राजनैतिक अधिकारों का सम्मान। दूसरे शब्दों में जैसा कि मानवाधिकारों के सार्वभौम घोषणा पत्र का अनु. 1 कहता है कि – सभी मनुष्य स्वतंत्र रूप से जन्म लेते हैं और गरिमा तथा अधिकार की दृष्टि से समान हैं, की भावना का पूर्ण सम्मान और अनुपालन।
2. अवसर की समानता जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने सामर्थ्य के अनुरूप अपना सर्वांगीण विकास करने का अवसर प्राप्त हो और वह समाज तथा अर्थव्यवस्था में योगदान कर सके। इस अधिकार पर समाज या राज्य द्वारा कोई नैतिक या विधिक सीमा दूसरे व्यक्ति की समान आजादी को सुनिश्चित करने की दृष्टि से ही लगाई जा सकती है।
3. परिवार तथा व्यक्ति दोनों के लिये जीवन की दशाएँ ऐसी हों जो एक साम्य की स्थिति दर्शानी हो यहाँ साम्य से अभिप्राय आय, सम्पत्ति तथा समाज में जीवन के अन्य आयामों को लेकर एक स्वीकार्य सीमा तक विषमता।

जीवन के अन्य आयामों को लेकर एक स्वीकार्य सीमा तक विषमता है। एम.नागराज वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सुनाये गये निर्णय से भी सामाजिक न्याय को समझने और वितरण की बुनियाद खास तौर पर अधिकार, योग्यता और आवश्यकता के संदर्भ में निर्धारण में मदद करती है। न्यायालय ने अपने निर्णय में सामाजिक न्याय को अधिकार, योग्यता तथा आवश्यकता के संदर्भ में देखते हुए तीनों मानदण्डों को समानता विषयक दो संप्रत्ययों के अन्तर्गत रखा है। ये हैं – (1) औपचारिक समानता, तथा (2) सापेक्ष समानता।

औपचारिक समानता का अर्थ यह है कि राज्य बिना इस बात का विचार किए कि कौन व्यक्ति सुविधा सम्पन्न वर्ग से है और सुविधाविहीन वर्ग से, सभी के साथ समान व्यवहार करेगा। वहीं सापेक्षित समानता का विचार राज्य से इस बात की अपेक्षा रखता है कि वह उदारवादी लोकतंत्र के ढाँचे में रहते हुए समाज के सुविधाविहीन वर्गों के पक्ष में सकारात्मक कार्यवाही करे। भारत का संविधान इस बात की व्यवस्था करता है कि लोगों की पहल–शक्ति और बुनियादी आजादी की प्रत्याभूति के साथ राज्य इस बात के लिए भी पहल करे कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे की कीमत पर समृद्ध न हो और साथ ही कोई व्यक्ति इसलिए हानि की स्थिति में न रहे कि वह समाज के किसी विशेष वर्ग से आता है या समाज ने उसके ऊपर किसी तरह की निर्योग्यता आरोपित की हो।

सामाजिक न्याय के विचार ने आधुनिक युग में व्यक्ति को स्वतंत्रता व समानता के विविध प्रावधानों के साथ जैसे– रंग, लिंग व जन्मगत भेदभाव की समाप्ति तथा शोषण व बेगार से मुक्ति पर जोर दिया है। स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय का यद्यपि एक आवश्यक व महत्वपूर्ण तत्व है तथापि अधिक निश्चित अर्थ में सामाजिक न्याय से आशय आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में समानता की स्थापना है। स्वतंत्रता कतिपय बुनियादी अधिकारों की कल्पना करती है जो व्यक्ति के नैसर्गिक विकास के लिये जरूरी है किन्तु अधिकारों का शायद ही कोई अर्थ है यदि समाज की रचना असमानता के सिद्धान्त पर हुई हो। एक न्यायपूर्ण व्यवस्था वह है जो समानता पर आधारित हो। व्यवस्था में जितनी अधिक विषमता होती है अन्याय व शोषण की संभावना भी उतनी ही होती है।[11] उदार पूँजीवादी विचारकों का मानना है कि यद्यपि पूर्ण समानता संभव नहीं है और समानता,

विकास के प्रतिकूल भी है तथापि मानवीय दृष्टि से समानता के लिये प्रयास छोड़ा नहीं जाना चाहिये क्योंकि प्रश्न असमानता की (समाप्ति) निरसन नहीं है। वे समाज में 'अवसर की समानता' तथा 'कानून के समक्ष समानता' की बात करते हैं। जहाँ वे इन्हें प्रत्येक मानव का अधिकार समझते हैं, वहीं इनको वे प्रतिस्पर्धा, प्रोत्साहन और प्रगति की राह में बाधक भी नहीं मानते। इन स्वीकृतियों से एक तो व्यक्ति को न्याय मिलता है दूसरे उसकी स्वतंत्रता का अपहरण भी नहीं होता है। वास्तव में असमानता, भेदभाव और अन्याय के विरूद्ध जागरूक प्रयास पशु समाज में देखने को नहीं मिलता है। पशु समाज में यह सम्भव भी नहीं है। ऐसा केवल मानव समाज में ही सम्भव है। जो लोग अपने कमजोर स्थिति के लिये स्वयं उत्तरदायी नहीं हैं उन्हें सामाजिक लाभ में न्यायोचित हिस्सा मिले, इसके लिये क्षतिपूर्ति किया जाना आवश्यक है। इसके लिये पहल करना समाज का नैतिक दायित्व है।[12]

प्रारम्भ में यह माना जाता रहा था कि असमानता एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, सामाजिक व्यवस्था का यह एक स्वाभाविक आचरण है और ईश्वरीय इच्छा के अनुसार समाज में असमानता व्याप्त है, उसको सहज रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए, पर धीरे–धीरे, विशेष रूप से आधुनिक समय में, उन संदर्भों की व्याख्या की जाने लगी, जिनसे असमानता की उत्पत्ति को किन्हीं अन्य संदर्भों में देखने की संभावना बढ़ी। यह बात विशेष रूप से समूहों और व्यक्तियों के बीच के अन्तरों के माध्यम से और अधिक समझी जाने लगी। आधुनिक समय में असमानता की ये व्याख्यायें समाजशास्त्रियों में अपने ही तरीके से परीक्षित की गयी है और समाज की व्यवस्थाओं को उसके माध्यम से समझने का प्रयास भी किया गया।

आज के युग में बराबरी समाज का प्रमुख लक्ष्य है। बराबरी लाने की अपनी मीमांसाएँ हैं और आधुनिक समाज के बहुत से आंदोलन बराबरी लाने के उद्देश्यों के साथ जुड़े हुए हैं। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का यह मानना था कि वर्तमान युग की आत्मा बराबरी के साथ जुड़ी हुई है। उन्होंने इतिहास की अपनी ही व्याख्या की थी। बहुत कुछ वामपंथी चिन्तन से प्रभावित नेहरू ने यह माना था कि अंततः असमानता को समाप्त होना चाहिए और उसके स्थान पर सामाजिक बराबरी स्थापित होनी चाहिए।[13] वर्तमान समय में असमानता के प्रश्न सार्वभौमिक या वैश्वीकरण के प्रश्न भी हैं। असमानता के नये स्वरूप, विभिन्न देशों की असमानता के रूप में हमारे सामने आये हैं और इनके विरुद्ध आंदोलन तथा चिन्तायें विश्वव्यापी ही हैं। गरीबी का निवारण, पर्यावरण में असमानता, मानव अधिकार और प्रजातंत्र के निर्वहन के प्रश्न विश्वव्यापी हैं। ये सभी आंदोलन, विश्वव्यापी चिन्ता के आंदोलन हैं। स्वयं महिलाओं के सशक्तिकरण का प्रश्न भी विश्वव्यापी चिन्ता का प्रश्न है।

असमानता का सम्बन्ध समाज में किसी समूह या समूहों में विभिन्न व्यक्तियों को मिलने वाले पुरस्कार तथा अवसरों की भिन्नता से सम्बन्धित है। यदि बराबरी को कानूनी बराबरी, अवसरों की बराबरी या प्राप्ति की बराबरी की आकांक्षा के रूप में देखा जाए तो असमानता के सारे संदर्भ बहुत पुराने हैं। वर्तमान में यदि असमानता के कारकों अथवा प्रभावों को देखा जाए तो वर्ग जेण्डर, नृजातीयता तथा निवास असमानता के सवालों के साथ जुड़े हुए हैं।[14] यदि विभिन्न व्यक्तियों के बीच अन्तरों की व्याख्या भी की जाय तो इस अवधारणा का संदर्भ व्यक्तियों, सामाजिक प्रस्थितियों और समूहों के बीच के अन्तर का है, जो सामाजिक अंतःक्रिया की प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं। स्वलसतोगा के अनुसार इन अन्तरों के चार स्वरूप चिह्नित किये जा सकते हैं : (1) प्रकार्यात्मक अन्तर जो श्रम विभाजन के रूप में है तथा जिसका संबंध व्यक्तियों के बीच विभिन्न कार्यों के बँटवारे के साथ जुड़ा हुआ है। (2) श्रेणियों का वह अन्तर, जिनका संबंध बहुत कम उपलब्ध है और जिसकी इच्छा असमान वितरण से है। (3) प्रथाओं का अन्तर, जिसके अन्तर्गत किसी परिस्थिति में उचित व्यवहार क्या होना चाहिए, उसके नियम अलग–अलग व्यक्तियों के लिये अलग–अलग है। (4) प्रतियोगात्मक

अन्तर इस संदर्भ में, कि किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये एक व्यक्ति सफल होगा और कई व्यक्ति असफल होंगे।[15]

सामाजिक असमानता की सर्वव्यापकता के कारण समाजशास्त्र के कुछ विद्वानों का यह मानना है कि असमानता अपरिहार्य है तथा इसमें कुछ भलाई भी है। उनका मानना है कि, अन्यथा यह असमानता इतनी स्थायी और विस्तृत क्यों है? यह भी मानना है कि असमानता से कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकलते हैं। जो लोग सकारात्मक परिणामों की चर्चा करते हैं, वे लोग यह मानते हैं कि शक्ति की असमानता आवश्यक है, क्योंकि यह बहुत सारे व्यक्तियों के व्यवस्थापन में मदद करती हैं, कुछ परिस्थितियों में सभी को पुरस्कृत नहीं किया जा सकता, इसलिए असमानता अपरिहार्य है। किन्हीं परिस्थितियों में कुछ लोगों के निजी स्वार्थ होते हैं और उन्हीं स्वार्थों के कारण असमानता भी स्थापित हो जाती है और किन्हीं परिस्थितियों में ऐतिहासिक परम्परायें लोगों को स्वीकार कराती हैं कि असमानता ही सामाजिक जीवन के संचालन का महत्वपूर्ण भाग है।[16]

निष्कर्ष :

असमानता की समस्या के दो पक्ष है – एक पक्ष का संबंध वितरण से है और दूसरा पक्ष सामाजिक संबंधों के साथ जुड़ा हुआ है। पहले पक्ष का उद्देश्य असमानता के उन कारकों को देखने का है, (जैसे – आय, सम्पत्ति, व्यवसाय, शिक्षा, शक्ति, क्षमता आदि) जो समाज के जनों में वितरित हैं दूसरे पक्ष का संबंध उन मानदण्डों से है जिनके अनुसार समूहों के संचालन में विभिन्न इकाइयाँ स्थापित की जाती हैं और उनको सामाजिक परिप्रेक्ष्य में वितरित किया जाता है। इतिहास के अलग–अलग युगों में और समाज के विभिन्न स्वरूपों में, इन दोनों ही प्रकार के स्वरूपों की विवेचनायें की गयी हैं।[17] विस्तृत अर्थों में, असमानता का वर्गीकरण आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक रूप में भी किया गया है। यह वर्गीकरण बहुत विस्तृत है और बहुत सारे पक्ष विश्लेषण के लिए इसके साथ जुड़े हुए हैं।[18] मार्क्स ने असमानता के स्वरूपों को पूँजीवादी व्यवस्था में देखा था और इस असमानता को वर्ग–संरचना तथा वर्ग–संघर्ष के साथ जोड़ने का प्रयास किया था। बाद में मैक्स वेबर ने उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार वर्ग, प्रस्थिति तथा शक्ति के संदर्भ में असमानता को देखने का प्रयास किया। मार्क्स और वेबर ने असमानता के संदर्भों को समझने के लिये एक नई दिशा प्रदान की। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्यवादी आंदोलन का आधार असमानता समाप्त कर बराबरी को स्थापित करने से सम्बन्धित रहा है। भारत जैसे देश में असमानता को देखने के अपने ही प्रयत्न किये गये हैं। इसी असमानता के संदर्भ में नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने कल्याणकारी अर्थशास्त्र की रचना पर जोर दिया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गौतम बलवान : ***राजनीतिक सिद्धान्त अवधारणाएँ एवं विमर्श,*** दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2013, पृ. 35–39.
2. बार्कर, एस.ई. : ***ग्रीक पॉलिटिकल थ्यूरी,*** लंदन, मैथूम, 1952, पृ. 179.
3. ***दि रिपब्लिक बुक,*** वा. 4, पृ. 163.
4. डेविड ह्यूम : ***इनक्वारिड, कनसरर्निंग दि प्रिंनेकल्स ऑफ मॉरल,*** सेलिंग बी. (एडि.), आक्सफार्ड, 1978, पृ. 24.

5. गौतम बलवान : ***राजनीतिक सिद्धान्त अवधारणाएँ एवं विमर्श,*** दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2013, पृ. 41.
6. गौतम बलवान : ***राजनीतिक सिद्धान्त अवधारणाएँ एवं विमर्श***, दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2013, पृ. 42–43.
7. www.oxford dictionary.com/definition/English/Social justice.
8. dictionary.cambridge.org/ dictionary/british/Social.
9. www.cej.org...definitions/defining-economic-justice and social justice.
10. www.cej.org...definitions/defining-economic-justice and social justice.
11. सिंह, रामगोपाल, ***सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष,*** जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2010, पृ. 3.
12. सिंह, रामगोपाल : ***सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष***, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2010, पृ. 5–6.
13. नेहरू, जवाहरलाल : ***दि डिस्क्वरी ऑफ इण्डिया***, दिल्ली, आक्सफोर्ड, 1989, पृ. 521.
14. मार्शल, जी. ***: डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी***, न्यूयार्क, आक्सफोर्ड, 1999, पृ. 313.
15. स्वलसतोगा : कारे, सोशल डिफरेन्टेशन, ***इन हिन्दी बुक ऑफ मार्डन सोशियोलॉजी,*** रोबर फैरिस (एडि.), शिकागो, रंड मैक्नले एण्ड कं. 1964, पृ. 530.
16. ट्यूमिन, मैनविल एम. : ***सोशल स्ट्रेटिफेक्शन,*** नई दिल्ली, प्रिंटिस हॉल ऑफ इण्डिया, 1969, पृ. 106–107.
17. बेतिल, आन्द्रे (एडि.) : ***सोशल इनइक्वीलिटी***, इंग्लैण्ड, पैनगुइन, 1969, पृ. 12.
18. रूनसी, मेन, डब्ल्यू.जी. : 'थ्री डाइमेंशन ऑफ सोशल इनइक्वीलिटी', इन बेतिल, आन्द्रे (एडि.), ***सोशल इनइक्वीलिटी***, इंग्लैण्ड, पैनगुइन, 1969, पृ. 45.